THE TIMES OF INDIA

Date: 10-02-18

Mard vs Mardani

Rani Laxmibai takes the stage after Padmavati

TOI Editorials

It's going viral like the reservation demands. Every community seems to want job quotas irrespective of whether or not it's already socially dominant, and an even newer fad is to battle cinema into submission on behalf of one's community.

If Rajput Karni Sena won glory by forcing Padmavati to become Padmaavat, why shouldn't Sarva Brahmin Mahasabha hope for the same in tormenting Manikarnika: The Queen of Jhansi? The mighty state governments that one after the other dropped to their knees then, have laid out the red carpet for the bullies. And these bullies are obsessive about what women get up to. Their blood pressure rose to dangerous levels at a Padmavati-Khilji dream sequence, which of course exists only in their imagination rather than in the film. Now with Manikarnika they are roiled by the spectre of Jhansi ki rani having an affair with an East India Company agent. They want to police women's sexuality not only in real life but also reel life.

Their fears/ fantasies revolve around 'their' women sleeping with the enemy – never mind that the filmmakers, once again fending for themselves without state support, deny any such scene. If only these macho senas got as agitated about girls' education and women's safety, or pressurised governments to create jobs. Sabotaging lively businesses like Bollywood will only destroy jobs. As for the harassed producer of Manikarnika he is left ruing, is this what Indian independence means? It certainly isn't what Rani Laxmibai fought for.

Date: 10-02-18

Cool the passions

SC does well to treat Ayodhya as a land dispute

TOI Editorials

The Supreme Court's resolve to treat the Babri Masjid–Ramjanmabhoomi dispute as a pure land dispute is welcome, as it clears a great deal of clutter on the path to a legal solution. Attempts at mediation have failed and "sentiments" have been bruited about for far too long, making the dispute seem well-nigh intractable. A democracy has to be based on rule of law; going down the path of sentiments can only be a recipe for anarchy, disorder, riots and mayhem. As a corollary, extraneous parties who are in the fight for all sorts of political or theological reasons need to be kept out – whether they are Hindu bodies, Muslim bodies, right wingers, left wingers, spiritual gurus or anybody else.

The politics of the dispute has smouldered for long and there will be no end in sight as long as there are electoral benefits to corner. But legality which has as its premise only the indubitable evidence on record rather than suppositions and sentiments is a different ball game – it is the only possible route to a lasting and peaceful resolution given that even long drawn out attempts at mediation have failed.

It is important for India's democratic institutions to reassert that the rule of law will take precedence. Investors have little confidence in a state kneeling before or whipping up vigilantism and a judiciary that struggles to resolve civil disputes. Casting aside narrow sentimentalism and politicking and governing dispassionately can be the best advertisement for "New India". If judges can blank out the noise around them and focus solely on the documents presented to them, there could be a closure to the title dispute. The political class and civil society must respect the verdict and lend a helping hand to restore communal harmony.

दैनिक भास्कर

Date: 10-02-18

अयोध्या विवाद में भावनाओं को नहीं मानने का उचित तर्क

संपादकीय

अयोध्या मामले पर भावनाओं के दबाव को मानने से इनकार करके सुप्रीम कोर्ट ने उचित ही किया है। अदालत की यह टिप्पणी संविधानवाद से निकली है कि अयोध्या विवाद मूलतः एक भूमि विवाद है और सुनवाई भावनाओं की नहीं इलाहाबाद हाई कोर्ट के 2010 के फैसले के विरुद्ध की गई अपील की हो रही है। करोड़ों हिंदुओं की भावनाओं का सवाल उठाकर कई और पक्षकार शामिल होना चाहते थे, जिनकी दलीलों को मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्र की तीन सदस्यीय पीठ ने अनसुना कर दिया। अयोध्या भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे पेचीदा विवाद है और इसमें अदालती दलीलों, अपीलों और सबूतों के साथ राजनीतिक भावनाओं के जुड़ाव को खारिज करना कठिन है। इसीलिए मुख्य न्यायाधीश को यह भी कहना पड़ा कि वे इस मामले की नजाकत को समझते हैं। यह भी एक कारण है कि जिसके नाते सुप्रीम कोर्ट इसकी लगातार सुनवाई करना चाहता है। हालांकि संवैधानिक पीठ की तरफ से किसी एक मामले पर इतना

ध्यान देने से जरूरतमंदों के दूसरे मामले प्रभावित हो रहे हैं और यह दलील अल्पसंख्यक समुदाय की ओर से पैरवी कर रहे वकील राजीव धवन ने न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत भी की है। इस मसले में सुप्रीम कोर्ट फूंक-फूंक कर कदम रख रहा है। दिसंबर 1992 में भी आरोप लगे थे कि अगर अदालत समय से फैसला दे देती तो शायद वैसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना न होती। सही है कि न्यायालय में लंबे समय से जन्मभूमि का विवाद लटका हुआ था लेकिन अगर सुनवाई अदालत अपना फैसला बहुसंख्यक समुदाय के विरुद्ध सुना देती तो क्या वह उसे मानने को तैयार हो जाता? यही प्रश्न आज भी है जिसका दबाव सुप्रीम कोर्ट पर काम कर रहा होगा। न्यायालय अगर धर्मग्रंथों के आधार पर यह फैसला देने का प्रयास करता है कि भगवान राम का जन्म वहीं हुआ था तो विधिशास्त्र की अवहेलना होगी और अगर वह इस दावे से इनकार करता है तो बहुसंख्यक समाज और उसकी राजनीति से सीधे टकराव लेना होगा। वैसे ही जल्दी में निर्णय देने पर न्याय को दफनाए जाने का तो देर से देने पर न्याय से वंचित करने की मशहूर उक्ति चरितार्थ होती दिख रही है। अदालती निर्णय से राजनीतिक दलों की लाभ-हानि तो होगी लेकिन उससे भी बड़ा सवाल भारतीय लोकतंत्र और उसकी संस्थाओं की लाज का है।

Date: 10-02-18

मालदीव में यामीन पर सख्त कार्रवाई करे भारत

चीन वहां सैन्य अड्डा बनाना चाहता है और अब यह छोटा द्वीप राष्ट्र इस्लामी कट्टरवाद का अड्डा भी बनता जा रहा है

वेदप्रताप वैदिक, (भारतीय विदेश नीति परिषद के अध्यक्ष)

मालदीव के राष्ट्रपति अब्दुल्ला यामीन किसी की नहीं सुन रहे हैं। उनसे संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, कनाडा और श्रीलंका ने अनुरोध किया है कि वे अपने संविधान और सर्वोच्च न्यायालय का सम्मान करें। मालदीव के सबसे बड़े पड़ोसी और शुभेच्छु राष्ट्र भारत के अनुरोध को वे ठुकरा चुके हैं। मालदीव के सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह फैसला दिया था कि जिन 12 सांसदों को संसद से निकाल दिया गया था, उन्हें वापस लिया जाए और विरोधी दलों के नौ नेताओं को रिहा किया जाए। इनमें मालदीव के पूर्व राष्ट्रपति मोहम्मद नशीद और यामीन के अपने एक उपराष्ट्रपति भी हैं।

यह फैसला मानने की बजाय यामीन ने मालदीव में आपातकाल लगा दिया। अब उनका बर्ताव किसी निरंकुश तानाशाह जैसा हो गया है। उन्होंने मुख्य न्यायाधीश अब्दुल्ला सईद और एक न्यायाधीश अली हमीद को गिरफ्तार कर लिया है। सईद के वकील ने आरोप लगाया है कि सईद से यह कहा गया है कि यदि वे फैसला वापस नहीं लेंगे तो उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएंगे। डर के मारे शेष तीन जजों ने वह फैसला रद्द कर दिया है। यदि सांसदों और नेताओं की वापसी हो जाती तो यामीन की गद्दी हिल जाती। चुनाव तो साल भर बाद है लेकिन, यामीन को अभी ही गद्दी छोड़नी पड़ती, क्योंकि 85 सदस्यीय संसद में इन 12 सांसदों के विरोध के कारण उनकी पार्टी अल्पमत में आ जाती और यदि उन पर

महाभियोग चलता तो उनके हारने की नौबत आ जाती। पूर्व राष्ट्रपति नशीद को 2015 में 13 साल के लिए जेल में डाल दिया गया था। लेकिन, इलाज के बहाने नशीद लंदन चले गए और अब यामीन के खिलाफ जबर्दस्त अभियान छेड़े हुए हैं।

यदि नशीद और शेष आठ नेता मुक्त होकर आज मालदीव में राजनीति करें तो यामीन का जीना मुश्किल हो सकता है। नशीद ने यामीन-सरकार के भ्रष्टाचार के ऐसे आंकड़े पेश किए हैं, जिनका तथ्यपूर्ण खंडन अभी तक नहीं किया जा सका है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नशीद का साथ दे रहे हैं 80 वर्षीय मौमून गय्यूम, जो कि यामीन के सौतेले भाई हैं और जिन्होंने 30 साल तक राष्ट्रपति के रुप में मालदीव पर राज किया है। पूर्व राष्ट्रपति नशीद और गय्यूम, दोनों के साथ दिल्ली में मेरी व्यक्तिगत भेंट और लंबी वार्ता हुई है। दोनों ही भारत के अभिन्न मित्र हैं। यामीन ने इतनी क्रूरता दिखाई है कि 80 वर्षीय गय्यूम को भी जेल में डाल दिया है।मालदीव की संसद के अध्यक्ष और यामीन के एक मंत्री ने तंग आकर इस्तीफा दे दिया है। खुद यामीन इतने बौखलाए हुए हैं कि उन्होंने पहले दो दिन में अपने दो पुलिस मुखियाओं को बर्खास्त कर दिया। अब उन्होंने अपने तीन परम मित्र राष्ट्रों- चीन, पाकिस्तान और सऊदी अरब को अपने विशेष दूत भिजवाए हैं। भारत ने उनके विशेष दूत को दिल्ली आने की अनुमति नहीं दी है। इस समय चीन खुलकर यामीन का समर्थन कर रहा है। उसने घुमा-फिराकर भारत को धमकी भी दी है कि मालदीव में बाहरी हस्तक्षेप अनुचित होगा। मालदीव भारत का पड़ोसी है और दक्षेस का सदस्य है लेकिन, ऐसा लग रहा है कि वह चीन का प्रदेश-सा बनता जा रहा है। चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग तो 2014 में ही मालदीव जा चुके हैं। हमारे प्रधानमंत्री बाकी सारे पड़ोसी देशों में हो आए, पाकिस्तान भी, लेकिन अभी तक मालदीव नहीं जा सके।

मालदीव ने अभी-अभी चीन के साथ मुक्त व्यापार समझौता कर लिया है। 777 पृष्ठ के इस समझौते को संसद ने सिर्फ 10 मिनिट में बिना बहस हरी झंडी दे दी। 85 सदस्यीय संसद में सिर्फ 30 वोटों से उसे पास कर दिया गया। बिल्कुल इसी तरह जुलाई 2015 में संसद ने एक ऐसा कानून आनन-फानन बना दिया, जिसके तहत कोई भी विदेशी सरकार या व्यक्ति मालदीव के द्वीपों को खरीद सकता था। ये दोनों सुविधाएं चीन के लिए की गई हैं ताकि वह वहां अपना सैनिक अड्डा बना सके। राष्ट्रपति शी की मालदीव-यात्रा के दौरान दोनों पक्षों ने 8 समझौते किए थे। सबसे बड़ा समझौता इब्राहिम अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा बनाने का था। इस हवाई अड्डे को पहले एक भारतीय कंपनी बना रही थी। उसे रद्द करके यह चीन को दे दिया गया। माले और उससे 10 किमी दूर समुद्र में स्थित द्वीप हुलहुले के बीच चीन अब एक पुल बनाएगा। मालदीव चीन के रेशम महापथ की योजना में सक्रिय हिस्सा लेगा। इसके अलावा चीन ने वहां सड़कें और मकान बनाने की योजनाएं भी शुरू कर दी हैं। गत वर्ष मालदीव पहुंचने वाले पर्यटकों में 90 प्रतिशत चीनी थे। मालदीव आजकल इस्लामी कट्टरवाद का अड्डा भी बनता जा रहा है। उसके सैकड़ों युवक आजकल सीरिया में छापामारी कर रहे हैं। पिछले तीन-चार महीनों में मैं कई बार लिख चुका हूं कि मालदीव में भारत-विरोधी लहर उठने वाली है। पिछले माह जब हमारे विदेश मंत्रालय की नींद खुली तो उसने मालदीव के विदेश मंत्री मोहम्मद असीम को भारत बुलवाया। उन्होंने सरकार परस्त एक मालदीवी अखबार के इस कथन का खंडन किया कि 'मालदीव का सबसे बड़ा दुश्मन भारत है और सबसे बड़ा दोस्त चीन है।' उसने भारत के साथ भी मुक्त व्यापार समझौते की बात कही। मैंने लिखा था कि यह सिर्फ जबानी जमा-खर्च है।

अब भारत क्या करे? यदि अंतरराष्ट्रीय दबाव के कारण विरोधी नेताओं को यामीन रिहा कर दें, उनमें सर्वसम्मति करवाएं और चुनावों की घोषणा कर दें तो भारत को कुछ करने की जरूरत नहीं है लेकिन, यदि वे तानाशाही रवैया जारी रखेंगे तो मालदीव में अराजकता फैल सकती है, जिसका सीधा असर भारत पर पड़ेगा। भारत ने यदि 1988 में सैन्य-हस्तक्षेप नहीं किया होता तो सिंगापुर और श्रीलंका से आए हुए हुड़दंगी मालदीव में राष्ट्रपति गय्यूम का तख्ता पलट देते। 1971 में

श्रीलंका की प्रधानमंत्री सिरिमाओ भंडारनायक के अनुरोध पर भारत ने सेना भेजकर उन्हें बचाया था। नेपाल के राजा त्रिभुवन की भी 1950 में भारत ने रक्षा की थी। 1971 में शेख मुजीब के निमंत्रण पर भारत ने सेना भेजकर बांग्लादेश का निर्माण करवाया था। मालदीव के पूर्व राष्ट्रपति नशीद तथा अन्य महत्वपूर्ण नेताओं ने इस संकट की घड़ी में भारत से मदद मांगी है। भारत को अपने लिए कुछ नहीं चाहिए लेकिन, इस चार लाख लोगों के देश में खून की नदियों को बहने से रोकना उसका कर्तव्य है।

दैनिक जागरण

Date: 10-02-18

न्यूनतम समर्थन मूल्य की जटिल गुत्थी, क्या किसानों को मिलेगा फायदा

फसल का वार्षिक समर्थन मूल्य किसी बाबू द्वारा आकलित गणना के आधार पर पहले से तय कर खुश होना नादानी है।

मृणाल पांडे, (लेखिका प्रसार भारती की पूर्व प्रमुख और वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

दो दशक पहले भारत में एक महान अक्रांति की शुरुआत हुई जिसे हम नई अर्थव्यवस्था कहते हैं। पांच फीसदी के आंकडे पर ही ठिठकी विकास दर को रफ्तार देने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश और सरकारी लाइसेंस कोटा परमिट राज की जकड़बंदी खत्म करने की घोषणा को बीसवीं सदी की सबसे अहम घटना माना गया। यह तब भी नजरअंदाज किया गया कि दल बदलने में माहिर भ्रष्ट भारतीय नेता और नौकरशाही सरकारी ताकत के मूल और चुनावी चंदे के अक्षय पात्र, लाइसेंस कोटा परमिट राज को त्यागने की तनिक भी उतावली न दिखाएंगे। अब तक सरकारें भले ही बदली हों, राज्यों में किसानी से शिक्षा तक की सारी राजकीय या निजी संस्थाओं में पुराने बिचौलियों की ही धमक कायम है। नई अर्थव्यवस्था का घोषित दर्शन यह था कि सरकारी नियम पारदर्शी होंगे तो भ्रष्टाचार कम होगा, मेहनती को मौका मिलेगा, नए उद्योग खुलेंगे, रोजगार बढ़ेंगे और फर्श से अर्श पर जा पहुंचे सफल नए कार्पोरेट्स उन ग्रामीण गरीबों के हक में अपना सामाजिक उत्तरदायित्व जरूर निभाएंगे जिनके बीच से वे आए हैं। 19वीं सदी में अमेरिका और यूरोप में यही हुआ।

आज निजी क्षेत्र में लक्ष्मी जी की महती कृपा भले ही खदानों की मिल्कियत, खनिज एवं तेल उद्योगों, व्यापार, निर्माण, उड्डयन और दूरसंचार सरीखे क्षेत्रों से हो रही है। वहां पैर जमाना और पसारना अंतत: सरकार की सद्भावना, वंशाधारित उद्योगजगत और उद्योगपतियों की भीतरी लोगों से खानदानी करीबी पर निर्भर है।पुराने हों कि नए, उद्योगपति सरकार से गरीबों की मदद के नाम पर छूटें पाकर भी सस्ते में हथियाये इलाके के खेतिहरों की सही भरपाई अपना कर्तव्य प्राय: नहीं मानते, पर जब चुनाव पास आते हैं तब राजनीतिक दल कठोर सचाई से टकराते हैं। गुजरात, राजस्थान के नतीजे उनको कह रहे हैं कि उज्ज्वला या बेटी बचाओ-पढ़ाओ, सरीखी आकर्षक सरकारी योजनाएं ग्रामीण इलाकों में लगभग बांझ साबित हो रही हैं जहां अंतत: खेती या मनरेगा ही अधिकतर परिवारों को कामऔर रोटी दे रहे हैं। युवा मर्दों के शहर पलायन, खेतीविनाशक पर्यावरण बदलावों, बिजली पानी की कमी और स्वास्थ्य की बुनियादी सुविधाओं से दूर खेतिहर

ग्रामीण समाज सरकार की कार्पोरेट क्षेत्र की दिलजोई और खेतिहरों की असल समस्याओं की उपेक्षा से बेहद नाराज है। इन सबका 2019 के आम चुनावों पर भी विपरीत असर पड़ सकता है यह जानकर सरकार ने इस बार बजट में कृषि क्षेत्र की बेहतरी के लिए कुछ बड़ी घोषणाएं की हैं। इनमें 23 फसलों की न्यूनतम खरीद कुल लागत के ऊपर 50 फीसदी तक बढ़ाने के प्रस्ताव को एक अभूतपूर्व मुहिम बताना प्रमुख है।

बजट की बारीकियों को पढ़ने में सक्षम विशेषज्ञों, जानकारों का कहना है कि कृषि दाम निर्धारक सरकारी संस्था सीएसीपी की बनाई तालिका से जिस फार्मूले को छांटकर फसल की बुनियादी मौजूदा लागत कूती गई है, वह दोषपूर्ण साबित होती रही है। 2013-14 के बीच पूर्ववर्ती सरकार ने भी रबी की सभी फसलों की लागत पर 50 फीसदी बढोतरी की थी और तब फसलों पर किसान की मूल लागत कम होने से गेहूं की खरीद पर उसे 106 फीसदी और रेपसीड एवं सरसों के तेल पर 133 फीसदी अधिक दाम मिले थे। आज लागत बढ़ने से यह वृद्धि कुल 112 प्रतिशत और 88 प्रतिशत ठहरेगी। खरीफ की फसल अभी आनी है और उसमें भी किसान को पिछले सालों जितना लाभ देने के लिए आज सरकार को धान पर 11 प्रतिशत, कपास पर 18 प्रतिशत और ज्वार पर 41 प्रतिशत तक न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाना होगा। इसके लिए आवंटित राशि ऊंट के मुंह में जीरा दिख रही है।

फसलों का अंतिम दाम तय करने में और भी कई कारक शामिल हैं। मसलन मंडियों के बिचौलिये जिनको समर्थन मूल्य बढ़ोतरी का अंतिम लाभ मिलता रहा है। फिर फसलों की बिकवाली अंतत: माल के उस बरस की बाजार मांग पर भी निर्भर करती है। इसलिए फसल का सालाना समर्थन मूल्य फार्मूलाई बीजगणित की किसी बाबू आकलित गणना के आधार पर पहले से तय कर खुश होना नादानी है। हमारे किसानों की आर्थिक दशा सिर्फ गिरते दामों और खेती की लागत बढ़ने से ही नहीं गिरी है। किसानी उनके लिए आज ऐसा घाटे का सौदा बन चली है जो सरकारी आकलन के अनुसार 1971 से 2011 के दरमियान ग्रामीण अर्थव्यवस्था की कुल आय में खेती का योगदान दो तिहाई से घट कर सिर्फ एक तिहाई रह गया है और 2003 से 2013 के बीच किसानों की खेती से तो सिर्फ 35 फीसदी आय ही बढ़ी जबकि पशुपालन से होने वाली आय में 200 प्रतिशत उछाल आ गया।इधर कई राज्यों में मांसाहार के खिलाफ जो नासमझ हिंसक सांप्रदायिक अभियान चलाए गए उनकी वजह से सूखे दुधारू पशुओं की बिक्री और नए दुधारू पशुओं की खरीद पर गहरा दुष्प्रभाव पाया गया। महाराष्ट्र में किसान अब अपने उस सूखे गोधन को लावारिस छोड़ने पर बाध्य हैं जिसे पहले बेचकर उसमें थोड़ा सा अतिरिक्त पैसा जोड़कर नए दुधारू पशु खरीदते थे। इसके साथ ही नोटबंदी की कृषि मंडियों पर मार, ग्रामीण मार्केटिंग का कमजोर ढांचा, समय पर बैंक ऋण या फसल भंडारण के लिए गोदामों का उपलब्ध न होना और अगली फसल के लिए जरूरी सामग्री खरीदने से लाचार किसानों के पास ताजा फसल को रोक कर उसके वाजिब दाम पर भावताव करो का समय नहीं। खुद नीति आयोग ने भी देश के 79 प्रतिशत किसानों को समस्या निराकरण के लिए लगातार एमएसपी बढ़ोतरी के सुझाव से असंतुष्ट पाया।

हमारे देश में खेती से इतर उपक्रमों की दो तरह की कोटियां हैं। पहली, जो सरकारी क्षेत्र से ज्यादा मदद लिए बिना भी खड़ी की गई हैं जैसे कि आइटी तथा फार्मा उपक्रम। दूसरी कोटि में वे उपक्रम हैं जिनको लगाने के लिए वह जमीन, जंगल, जल चाहिए जो अक्सर ग्रामीण इलाकों में है। गांवों से खनिज क्षेत्र, निर्माण क्षेत्र और भू अधिग्रहण के लिए ग्रामीणों की सहमति के बजाय आज भी राज्य मंत्रालयीन सहमति और विभागीय परमिट अनिवार्य हैं। लिहाजा ऐसे अधिकतर उपक्रमों का भाग्योदय सरकारी संरक्षण में जमीनी खरीद फरोख्त और सरकारी निर्माण कार्यों के मार्फत हो जाता है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का योगदान सकल आय में घटा और शहरीकरण बढ़ा है। खेती मुर्झाई है और वे उद्योग फले फूले हैं जिनके सिंहद्वार की मुख्य चाभी सरकारी नियामकों और विभागीय मंत्रियों के पास है। तिस पर

नोटबंदी और फिर अफरातफरी में लागू जीएसटी ने किसानी की कई नियामक संस्थाओं का कचूमर निकाल दिया है। घोटालों में चिन्हित किंतु वोटबैंकों के धनी जिन नेताओं ने अदालत से बरी हो कर रातोंरात पाला बदला और सत्ता से मधुर रिश्ते बनाए वे आज किसानों के हितों की रक्षा के लिये 500 करोड़ की राशि से तगड़ा एमएसपी दिलवाने की बात तो कर रहे हैं, पर किसान बेचारा जानता है कि अंतत: इसका दारोमदार राज्य सरकारों पर रहेगा। वे ही तय करेंगी कि वे कब माल खरीदें और कब कैसे बाजार में बिकवाली पर उतरें।

कुमाऊंनी कहावत के शब्दों में यह तो इसकी टोपी उसके और उसकी टोपी इसके सर रखने वाली बात हुई।दो दशक पहले भारत में एक महान अक्रांति की शुरुआत हुई जिसे हम नई अर्थव्यवस्था कहते हैं। पांच फीसदी के आंकडे पर ही ठिठकी विकास दर को रफ्तार देने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश और सरकारी लाइसेंस कोटा परमिट राज की जकड़बंदी खत्म करने की घोषणा को बीसवीं सदी की सबसे अहम घटना माना गया। यह तब भी नजरअंदाज किया गया कि दल बदलने में माहिर भ्रष्ट भारतीय नेता और नौकरशाही सरकारी ताकत के मूल और चुनावी चंदे के अक्षय पात्र, लाइसेंस कोटा परमिट राज को त्यागने की तनिक भी उतावली न दिखाएंगे। अब तक सरकारें भले ही बदली हों, राज्यों में किसानी से शिक्षा तक की सारी राजकीय या निजी संस्थाओं में पुराने बिचौलियों की ही धमक कायम है। नई अर्थव्यवस्था का घोषित दर्शन यह था कि सरकारी नियम पारदर्शी होंगे तो भ्रष्टाचार कम होगा, मेहनती को मौका मिलेगा, नए उद्योग खुलेंगे, रोजगार बढ़ेंगे और फर्श से अर्श पर जा पहुंचे सफल नए कार्पोरेट्स उन ग्रामीण गरीबों के हक में अपना सामाजिक उत्तरदायित्व जरूर निभाएंगे जिनके बीच से वे आए हैं। 19वीं सदी में अमेरिका और यूरोप में यही हुआ।

आज निजी क्षेत्र में लक्ष्मी जी की महती कृपा भले ही खदानों की मिल्कियत, खनिज एवं तेल उद्योगों, व्यापार, निर्माण, उड्डयन और दूरसंचार सरीखे क्षेत्रों से हो रही है। वहां पैर जमाना और पसारना अंतत: सरकार की सद्भावना, वंशाधारित उद्योगजगत और उद्योगपतियों की भीतरी लोगों से खानदानी करीबी पर निर्भर है।पुराने हों कि नए, उद्योगपति सरकार से गरीबों की मदद के नाम पर छूटें पाकर भी सस्ते में हथियाये इलाके के खेतिहरों की सही भरपाई अपना कर्तव्य प्राय: नहीं मानते, पर जब चुनाव पास आते हैं तब राजनीतिक दल कठोर सचाई से टकराते हैं। गुजरात, राजस्थान के नतीजे उनको कह रहे हैं कि उज्ज्वला या बेटी बचाओ-पढ़ाओ, सरीखी आकर्षक सरकारी योजनाएं ग्रामीण इलाकों में लगभग बांझ साबित हो रही हैं जहां अंतत: खेती या मनरेगा ही अधिकतर परिवारों को कामऔर रोटी दे रहे हैं। युवा मर्दों के शहर पलायन, खेतीविनाशक पर्यावरण बदलावों, बिजली पानी की कमी और स्वास्थ्य की बुनियादी सुविधाओं से दूर खेतिहर ग्रामीण समाज सरकार की कार्पोरेट क्षेत्र की दिलजोई और खेतिहरों की असल समस्याओं की उपेक्षा से बेहद नाराज है। इन सबका 2019 के आम चुनावों पर भी विपरीत असर पड़ सकता है यह जानकर सरकार ने इस बार बजट में कृषि क्षेत्र की बेहतरी के लिए कुछ बड़ी घोषणाएं की हैं।

इनमें 23 फसलों की न्यूनतम खरीद कुल लागत के ऊपर 50 फीसदी तक बढ़ाने के प्रस्ताव को एक अभूतपूर्व मुहिम बताना प्रमुख है।बजट की बारीकियों को पढ़ने में सक्षम विशेषज्ञों, जानकारों का कहना है कि कृषि दाम निर्धारक सरकारी संस्था सीएसीपी की बनाई तालिका से जिस फार्मूले को छांटकर फसल की बुनियादी मौजूदा लागत कूती गई है, वह दोषपूर्ण साबित होती रही है। 2013-14 के बीच पूर्ववर्ती सरकार ने भी रबी की सभी फसलों की लागत पर 50 फीसदी बढोतरी की थी और तब फसलों पर किसान की मूल लागत कम होने से गेहूं की खरीद पर उसे 106 फीसदी और रेपसीड एवं सरसों के तेल पर 133 फीसदी अधिक दाम मिले थे। आज लागत बढ़ने से यह वृद्धि कुल 112 प्रतिशत और 88 प्रतिशत ठहरेगी। खरीफ की फसल अभी आनी है और उसमें भी किसान को पिछले सालों जितना लाभ देने के लिए आज

सरकार को धान पर 11 प्रतिशत, कपास पर 18 प्रतिशत और ज्वार पर 41 प्रतिशत तक न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाना होगा। इसके लिए आवंटित राशि ऊंट के मुंह में जीरा दिख रही है।

फसलों का अंतिम दाम तय करने में और भी कई कारक शामिल हैं। मसलन मंडियों के बिचौलिये जिनको समर्थन मूल्य बढ़ोतरी का अंतिम लाभ मिलता रहा है। फिर फसलों की बिकवाली अंतत: माल के उस बरस की बाजार मांग पर भी निर्भर करती है। इसलिए फसल का सालाना समर्थन मूल्य फार्मूलाई बीजगणित की किसी बाबू आकलित गणना के आधार पर पहले से तय कर खुश होना नादानी है। हमारे किसानों की आर्थिक दशा सिर्फ गिरते दामों और खेती की लागत बढ़ने से ही नहीं गिरी है। किसानी उनके लिए आज ऐसा घाटे का सौदा बन चली है जो सरकारी आकलन के अनुसार 1971 से 2011 के दरमियान ग्रामीण अर्थव्यवस्था की कुल आय में खेती का योगदान दो तिहाई से घट कर सिर्फ एक तिहाई रह गया है और 2003 से 2013 के बीच किसानों की खेती से तो सिर्फ 35 फीसदी आय ही बढ़ी जबकि पशुपालन से होने वाली आय में 200 प्रतिशत उछाल आ गया।इधर कई राज्यों में मांसाहार के खिलाफ जो नासमझ हिंसक सांप्रदायिक अभियान चलाए गए उनकी वजह से सूखे दुधारू पशुओं की बिक्री और नए दुधारू पशुओं की खरीद पर गहरा दुष्प्रभाव पाया गया। महाराष्ट्र में किसान अब अपने उस सूखे गोधन को लावारिस छोड़ने पर बाध्य हैं जिसे पहले बेचकर उसमें थोड़ा सा अतिरिक्त पैसा जोड़कर नए दुधारू पशु खरीदते थे। इसके साथ ही नोटबंदी की कृषि मंडियों पर मार, ग्रामीण मार्केटिंग का कमजोर ढांचा, समय पर बैंक ऋण या फसल भंडारण के लिए गोदामों का उपलब्ध न होना और अगली फसल के लिए जरूरी सामग्री खरीदने से लाचार किसानों के पास ताजा फसल को रोक कर उसके वाजिब दाम पर भावताव करो का समय नहीं। खुद नीति आयोग ने भी देश के 79 प्रतिशत किसानों को समस्या निराकरण के लिए लगातार एमएसपी बढ़ोतरी के सुझाव से असंतुष्ट पाया।

हमारे देश में खेती से इतर उपक्रमों की दो तरह की कोटियां हैं। पहली, जो सरकारी क्षेत्र से ज्यादा मदद लिए बिना भी खड़ी की गई हैं जैसे कि आइटी तथा फार्मा उपक्रम। दूसरी कोटि में वे उपक्रम हैं जिनको लगाने के लिए वह जमीन, जंगल, जल चाहिए जो अक्सर ग्रामीण इलाकों में है। गांवों से खनिज क्षेत्र, निर्माण क्षेत्र और भू अधिग्रहण के लिए ग्रामीणों की सहमति के बजाय आज भी राज्य मंत्रालयीन सहमति और विभागीय परमिट अनिवार्य हैं। लिहाजा ऐसे अधिकतर उपक्रमों का भाग्योदय सरकारी संरक्षण में जमीनी खरीद फरोख्त और सरकारी निर्माण कार्यों के मार्फत हो जाता है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का योगदान सकल आय में घटा और शहरीकरण बढ़ा है। खेती मुर्झाई है और वे उद्योग फले फूले हैं जिनके सिंहद्वार की मुख्य चाभी सरकारी नियामकों और विभागीय मंत्रियों के पास है। तिस पर नोटबंदी और फिर अफरातफरी में लागू जीएसटी ने किसानी की कई नियामक संस्थाओं का कचूमर निकाल दिया है। घोटालों में चिन्हित किंतु वोटबैंकों के धनी जिन नेताओं ने अदालत से बरी हो कर रातोंरात पाला बदला और सत्ता से मधुर रिश्ते बनाए वे आज किसानों के हितों की रक्षा के लिये 500 करोड़ की राशि से तगड़ा एमएसपी दिलवाने की बात तो कर रहे हैं, पर किसान बेचारा जानता है कि अंतत: इसका दारोमदार राज्य सरकारों पर रहेगा। वे ही तय करेंगी कि वे कब माल खरीदें और कब कैसे बाजार में बिकवाली पर उतरें। कुमाऊंनी कहावत के शब्दों में यह तो इसकी टोपी उसके और उसकी टोपी इसके सर रखने वाली बात हुई।

स्वास्थ्य ढांचे का सच

संपादकीय

नीति आयोग की ओर से जारी स्वास्थ्य सूचकांक पर केंद्र सरकार के साथ-साथ राज्य सरकारों के नीति-नियंताओं को भी चेत जाना चाहिए। इसलिए और भी, क्योंकि बड़ी आबादी वाले राज्यों में केरल को छोड़कर किसी के भी अंक 70 से अधिक नहीं। केरल सौ में 80 अंक लेकर पहले स्थान पर है तो पंजाब करीब 65 अंक के साथ दूसरे पायदान पर। इस सूचकांक में कहीं अधिक आबादी वाले उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों ने जिस तरह 50 से भी कम अंक हासिल किए उससे यह साफ है कि वहां स्वास्थ्य सुविधाएं संतोषजनक नहीं हैं। चिंता की बात यह है कि ज्यादातर राज्यों के अंक 40-50 के आसपास ही हैं। सेहत के विभिन्न पहलुओं के आधार पर तैयार इस सूचकांक का विवरण सामने आने के बाद फिसड्डी राज्यों को अपने स्वास्थ्य ढांचे को सुधारने के लिए कमर कसनी ही होगी।

नि:संदेह यह काम उन राज्यों को भी करना होगा जो कुछ बेहतर स्थिति में दिख रहे हैं, क्योंकि उनकी प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। अगर केरल स्वास्थ्य ढांचे को सुधारने का काम उल्लेखनीय तरीके से कर सकता है तो अन्य राज्य क्यों नहीं कर सकते? केंद्र सरकार को केवल यह कहकर कर्तव्य की इतिश्री नहीं करनी चाहिए कि वह इसी सूचकांक के आधार पर राज्यों को अनुदान देगी। उसे यह सुनिश्चित करना होगा कि राज्य अपने स्वास्थ्य तंत्र को सुधारने को लेकर आवश्यक प्रतिबद्धता दिखाएं। यह इसलिए और आवश्यक है, क्योंकि इस बार के आम बजट में जिस स्वास्थ्य बीमा योजना को बाजी पलटने वाला बताया जा रहा है वह ऐसी तभी साबित होगी जब देश का स्वास्थ्य ढांचा बेहतर होगा। अभी तो स्थिति चिंताजनक ही अधिक है।

फिलहाल अपने देश में प्रति एक हजार आबादी पर एक डॉक्टर का भी औसत नहीं है। ग्रामीण इलाकों में डॉक्टरों के साथ सरकारी एवं गैर सरकारी स्वास्थ्य तंत्र की उपलब्धता और अधिक दयनीय है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि एमबीबीएस करके निकले युवा डॉक्टर ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के लिए ही तैयार नहीं। कई राज्यों ने इसके लिए प्रोत्साहन योजनाएं चला रखी हैं, लेकिन वे कारगर साबित नहीं हो रही हैं। एक समस्या यह भी है कि प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के साथ अन्य सरकारी अस्पतालों पर लोगों का भरोसा कम होता जा रहा है। आम आदमी के लिए निजी क्षेत्र के अस्पताल महंगे ही नहीं हैं, नियमन और निगरानी के अभाव में वे बेलगाम भी हैं।

इस सबके अतिरिक्त सरकार को इससे भी परिचित होना चाहिए कि भारत उन देशों में जहां आम लोग उपचार कराने के फेर में कर्जदार हो जा रहे हैं। कारगर स्वास्थ्य तंत्र का अभाव केवल संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास के लक्ष्यों को हासिल करने में ही बाधक नहीं है। उसके कारण ही देश की उत्पादकता भी नहीं बढ़ पा रही है। ऐसे में नीति आयोग को केवल इससे संतुष्ट नहीं होना चाहिए कि भारत राज्यों के स्तर पर स्वास्थ्य सूचकांक तैयार करने वाला पहला देश बन गया है। उसका लक्ष्य ऐसी प्रभावी रीति-नीति बनाना भी होना चाहिए जिससे देश का स्वास्थ्य ढांचा तेजी के साथ सुधरे और वह आम लोगों की सेहत संबंधी जरूरतों को पूरा भी करे।

THE HINDU

Date: 09-02-18

Big discoveries have small origins

One route to help the cause of science is to provide more funds for small-scale research projects

M.S. Santhanam is an associate professor of physics at the Indian Institute of Science Education and Research, Pune.

In a rather belated official admission that scientific and technological innovations underpin economic prosperity, the Economic Survey, released ahead of the Budget, carries an entire chapter on transforming science and technology in India. It calls for doubling research and development expenditure from its current level of about □1 lakh crore, amounting to 0.8% of the gross domestic product (GDP). Even if instantly doubled through a miraculous diktat, it would still lag behind China, Israel, Japan and the U.S., each spending more than 2% of their GDP on research. For long, attaining the 2% GDP level had remained elusive for Indian science, but this is only a part of the story.

Diminishing funds

The other critical part, diminishing funds for exploratory small-scale science research, escapes attention in the din of the debate based on comparative GDP figures. Seminal innovations often result from the efforts of scientists working alone or in small groups with a tight budget rather than in well-funded mega projects. In 2012, the discovery of Higgs boson ('God particle' in popular media) at CERN, the European Organisation for Nuclear Research in Geneva, hit the world's headlines. With $1 billion annual expenditure, CERN's work is big science by any yardstick. Yet, Higgs boson had its humble origins in seminal theoretical works of several scientists, including Peter Higgs, working independently. Even the $100 billion enterprise Google began as an innovative mathematical idea of Larry Page and Sergey Brin, funded by modest grants from the National Science Foundation (NSF), at Stanford University.

Today, the global market for Raman spectrometers is about $1.2 billion. In 1928, C.V. Raman spent about □200 on his laboratory-built spectrometer that heralded the era of Raman spectroscopy as an analytical tool and also brought to India its first science Nobel prize. Through the 1960s, Vikram Sarabhai was experimenting with simple sounding rockets that ultimately grew into the Indian Space Research Organisation of today, that we can justifiably be proud of. Time and again, small science projects have demonstrated the potential to emerge as harbingers of technological changes. Debates based on gross budget figures and GDP benchmarks miss the fact that over the years, funding for smaller, as opposed to large-scale big ticket, projects are dwindling.

Reading the fine print

Consider the fine print in this year's Budget. Of the □27,910 crore allotted to science ministries, □900 crore, or 3.22%, is earmarked for basic science projects to be disbursed as competitive research grants by the statutory body, Science and Engineering Research Board (SERB). In comparison, the apex body for medical research in the U.S., the National Institutes of Health, alone disbursed $25 billion as research grants in 2017, representing 36% of the country's non-defence science budget. This figure can be higher if combined with the contribution of other agencies such as the NSF. The U.K.'s Engineering and Physical Sciences Research Council distributes nearly 10% of the research budget as grants. Clearly, India's provision for competitive research grants needs upward revision.

In India, as elsewhere, a significant fraction of the science budget goes to mission-oriented projects in the areas of defence, space, nuclear and environmental sciences. The mission-oriented work in these areas need not be diluted to favour small research grants. The operational missions are important but so is the research ecosystem that provides human resources and feeds the innovation pipelines connected to these missions. Throttling smaller-scale research is akin to cutting off the innovation pipelines. Enhanced competitive research grants for the Indian Institutes of Technology, the Indian Institutes of Science Education and Research, and universities will help address the needs of a larger pool of scientific talent outside national labs and bring in returns by way of publications, patents and innovations that can meet immediate needs.

A glimmer of hope

Remarkably, the Economic Survey too has flagged this issue and recommends that India "gradually move to have a greater share of an investigator-driven model for funding science research". It also talks of the "need to expand with more resources and creative governance structures". Nearly every big science venture of today began as a budding small idea yesterday. It is imperative to incentivise the small ideas as some of them might ultimately scale up to join the big league. One route to help the cause of science is by provisioning more funds for small-scale research projects as well. The Economic Survey offers that glimmer of hope.